

# अज्ञान भी ज्ञान है

संपादन  
अनुपम मिश्र

हरित स्वराज

**अज्ञान भी ज्ञान है**

प्रथम संस्करण: अक्टूबर 2015

संपादन: अनुपम मिश्र

प्रकाशक

सिस्टम्स विज़न

ए-199, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज़-1

नई दिल्ली-110020

फोन: 011-41612598

ई-मेल: [systemsvision@gmail.com](mailto:systemsvision@gmail.com)

# विषय सूची

अज्ञान भी ज्ञान है .....	1
विनोबा	
मेंढा गांव की गल्ली सरकार .....	5
मिलिंद बोकील	
धर्म की देहरी और समय देवता .....	25
कुमार प्रशांत	
आने वाली पीढ़ियों से कुछ सवाल .....	36
महेन्द्र देसाई	
शिक्षा के कठिन दौर में एक सरल स्कूल .....	55
सुरेन्द्र बांसल	
चुटकी भर नमक: पसेरी भर अन्याय .....	58
इरपिंदर भाटिया	
दुर्योधन का दरबार .....	67
आचार्य राममूर्ति	
जल का भंडारा .....	75
मनीष राजनकर	
उर्वरता की हिंसक भूमि .....	85
सोपान जोशी	
एक निर्मल कथा .....	94
ध्रुवज्योति घोष	
संस्थाएं नारायण-परायण बनें .....	102
विनोबा	
दिव्य प्रवाह से अनंत तक .....	115
मैलविल डी मैलो	
जब ईंधन नहीं रहेगा .....	124
आइजैक असिमोव	

## भूमिका

छोटी पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में कभी गांधीजी ने कहा था “सच कभी बासा नहीं होता!”

‘अज्ञान भी ज्ञान है’ में छपे ये लेख इसी बात को रेखांकित करते हैं ये सारे लेख ‘गांधी मार्ग’ नाम की जिस पत्रिका से लिए गए हैं। उसे गांधी शांति प्रतिष्ठान पिछले छप्पन वर्षों से प्रकाशित करता आ रहा है। गांधी शांति प्रतिष्ठान की स्थापना श्री राजेंद्रप्रसाद, श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री एस. राधाकृष्णन, श्री जाकिर हुसैन, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री जे. बी. कृपालानी और श्री जयप्रकाश नारायण जैसों ने की थी।

समय बदलता है, लेकिन कई बार समस्याएं नहीं बदलतीं। इसलिए गांधी शांति प्रतिष्ठान सातत्यपूर्वक इस काम में लगा ही रहा है। ऐसा नहीं है कि इस काम को करते हुए अड़चनें न आई हों। कभी साधनों की कमी हुई, कभी हाथों की। आपातकाल जैसे दौर भी आए लेकिन ‘गांधी मार्ग’ बराबर छपती रही और न इनसे न उनसे कभी किसी तरह का समझौता किया।

ऐसा नहीं है कि हम अपनी सीमाएं नहीं जानते। सातों दिन, चौबीस घंटे तरह-तरह की खबरों और विचार परोसने वाले टी.वी. चैनलों और एक साथ तीस-चालीस शहरों से प्रकाशित होने वाले बड़े-बड़े दैनिक अखबारों के बीच दो महीने में एक बार निकलने वाली यह छोटी-सी पत्रिका ‘गांधी-मार्ग’ कितनी दूरी तय कर सकती है और कितने हाथों में जा सकती है, इसका हमें ठीक-ठीक अंदाजा है।

लेकिन पत्रिका के पाठकों से लगातार मिल रहे पत्र हमें बताते हैं कि इसमें छपे लेखों को वे कितना पसंद करते हैं और फिर अपनी ओर से इसे आगे बढ़ाने के लिए क्या-क्या करते हैं! बहुत सारे विवरण यहां दोहराने से बचते हुए सिर्फ एक जानकारी दी जा सकती है। दृष्टिबाधित साथियों के

साथ काम कर रही दिल्ली की प्रसिद्ध संस्था 'द ब्लाइंड रिलीफ एसोसिएशन' इस पत्रिका के चुने हुए लेखों को ब्रेल लिपि में भी वितरित करती है। पाठकों की संख्या यों कोई ज्यादा नहीं होगी, लेकिन कुछ पाठक इन बातों को अपने-अपने इलाके की भाषाओं में अनुवाद करके भी आगे बढ़ाते हैं, तो कभी टी.वी. चैनल में काम कर रहा कोई पाठक इसे कागज़ से उठाकर छोटे पर्दे पर डालता है।

इन सारे लेखों से अगर यह बात हमारे सामने हो कि अज्ञान हर असर दूसरा नहीं, ज्ञान की तरफ गमन का संकेत है तो उस संकलन की भूमिका पूरी हो जाएगी और हमें सार्थकतर का बोध होगा।

कुमार प्रशांत  
गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

# अज्ञान भी ज्ञान है

विनोबा

हमारे देश में उन दिनों से तालीम है, जबकि यूरोप में तालीम का आरंभ भी नहीं हुआ था। यह बात उपनिषद् में भी आती है। उपनिषद् का राजा अपने राज्य का वर्णन कर रहा है— न अविद्वान— मेरे राज्य में विद्वान न हो ऐसा कोई नहीं। सिर्फ पढ़े-लिखे लोग ही नहीं, सब विद्वान हैं।

एनी बेसेंट ने एक जगह लिखा है कि 300 साल पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के लोग बंगाल के छोटे-छोटे गांवों में गए थे। उन्होंने अपने सर्वेक्षण में, रिकॉर्ड में लिखा है कि बंगाल में प्रति चार सौ व्यक्तियों के पीछे एक पाठशाला है। मैं सोच रहा था कि चार सौ में एक शाला का अर्थ है लगभग प्रत्येक गांव में एक शाला। हम लोग मानते हैं कि हमारे देश में अंग्रेजों ने ही व्यापक शिक्षण शुरू किया। उसके पहले हमारी सामान्य जनता तो निरक्षर थी और केवल ब्राह्मण और वैश्य जैसे कुछ लोग ही साक्षर थे। जबकि ऐतिहासिक तथ्य जैसा मैंने कहा, वैसा कुछ और ही कहता है।

अंग्रेजों ने यहां 150 साल तक राज किया। उन डेढ़ सौ वर्षों में महज दस बारह प्रतिशत लोगों को शिक्षण मिला। बाकी 88 प्रतिशत लोग अशिक्षित रहे। इस समय लगभग 30 प्रतिशत लोग शिक्षित हैं। परंतु ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में लोग अशिक्षित नहीं थे। अंग्रेजों के जमाने में लोग अशिक्षित बनते गए। अंग्रेजों ने यहां आकर विद्या के दो टुकड़े कर दिए। एक सामान्य विद्या और बाकी अक्षरशत्रु।

सामान्यतः आरंभ में ब्राह्मणादि उच्च शिक्षण लेते थे, इसलिए उनकी श्रेष्ठता दुहरी हो गई। परिणामतः समाज के बिल्कुल टुकड़े-टुकड़े हो गए।

इस तरह समाज को विभाजित करना पाप ही माना जाएगा। अंग्रेजों द्वारा किए गए वे टुकड़े आज तक कायम हैं।

उस जमाने में हर पंचायत का काम था कि गांव में स्कूल चले और उसके लिए किसानों से कुछ न कुछ हिस्सा मिले। तब अरबी या संस्कृत का ज्ञान जरूरी था और उसके लिए अक्षर ज्ञान तो अनिवार्य था ही। मतलब, भारत निरक्षर नहीं था चाहे शिक्षण की पद्धति पुरानी थी। महाराष्ट्र में तो घोड़े पर चढ़ना, पेड़ और पहाड़ों पर चढ़ना-उतरना हर एक को सिखाया जाता था अर्थात् विद्या क्रियाशील थी और स्वतंत्र थी।

शिक्षण से यह अपेक्षा की जाती थी कि उससे विद्यार्थी को अपने समग्र विकास की सामग्री मिले। मन की जितनी भी शक्तियां हैं, वे सब ऋषि-मुनियों ने हमें समझा दी हैं। अनंतं हि मनः अनंता विश्वेदेवाः— विश्वदेव अनंतं हैं और मन भी अनंत है। जब हम उसकी एक-एक वृत्ति और शक्ति का विश्लेषण करने लगते हैं, तब हमें उसके अनेक गुणों का आभास मिलता है। आत्मा सच्चिदानंद है। उसके सान्निध्य में मन में अनेक गुणों की छाया प्रतिबिंबित हो उठती है, अनंत गुण मन में प्रकाशित हो उठते हैं।

हमें अनुभवी लोगों ने सिखलाया है कि मुख्य शिक्षण वही है, जिससे हम अपने-आपको मन और शरीर से भिन्न पहचान सकें। स्वयं की यह पहचान ही सर्वोपरि गुण है।

इन दिनों हर कोई ज्ञान के पीछे पड़ा हुआ दिखाई देता है। यह सीखता है, वह सीखता है। एक के बाद दूसरा सीखता चला जाता है। इस तरह चित्त इतने सारे ज्ञान का बोझ ढोता है तो चिंतन-शक्ति क्षीण हो जाती है। गीता में कहा है कि तू श्रुतिविप्रतिपन्नमति है। अनेक बातें सुन-सुन कर तेरी मति विप्रतिपन्न हुई है। अनेक विद्याएं प्राप्त कर तू विद्वान बना है, पंडित तो बना है लेकिन उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त अनिर्णय की अवस्था में रहता है। दोनों ओर से कुछ कहा जा सकता है— ऐसा हर बात में कहा जाता है। हां या ना की हालत होती है। समस्या ही समस्या दिखाई देती है। समस्या का परिहार नहीं होता। अनंत समस्याएं खड़ी हुईं दिखती हैं। बुद्धि चलती है लेकिन विपरीत चलती है। इससे मनुष्य निष्प्राण, निर्वीर्य, भ्रांत बनता है। इससे उलटे अज्ञान हो तो चित्त पर बोझ कुछ नहीं रहता। यह

तो ठीक है, लेकिन उसका परिणाम यह होता है कि स्फूर्ति भी नहीं रहती।

मनुष्य के लिए विद्या और अविद्या दोनों आवश्यक हैं। दुनिया में हजारों प्रकार के शास्त्र और हजारों प्रकार का ज्ञान है। उन सबकी प्राप्ति में पड़ेंगे तो हमसे कोई काम नहीं होगा। संसार में इतना ज्ञान भरा पड़ा है कि उन सबको अपने मस्तिष्क में ठूसने का यत्न करने से मानव पागल हो जाएगा। हर ज्ञान प्राप्त करना ठीक नहीं। जिस ज्ञान की स्वधर्माचरण में कोई आवश्यकता नहीं, जिससे बुद्धिभेद होता है, उस ज्ञान का चित्त पर बोझ नहीं डालना चाहिए। उसकी अविद्या ही रहने दी जाए।

छोटे बच्चे में अविद्या की महिमा सहज प्रकट होती है। किंतु जैसे-जैसे मनुष्य बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वह अनेक बातें जानने लगता है। वे सब बातें जानना उसके लिए जरूरी नहीं। कुछ बातें तो हानिकारक भी होती हैं। उन सारी बातों को भूल जाना चाहिए। इस प्रकार अविद्या भी एक प्रकार से साधक की साधना का अंग है। इस तरह विद्या और अविद्या दोनों चाहिए। दोनों मिलकर ज्ञान प्राप्त होता है और फिर उसके बाद आता है आत्म ज्ञान, जो परम साम्य है।

मुझे आज तक ऐसा एक भी धर्म ग्रंथ नहीं मिला, एक भी आदमी नहीं मिला, जिसने कहा हो कि अज्ञान की जरूरत है। ईशोपनिषद् ही ऐसा पहला ग्रंथ है जो कहता है कि जितनी ज्ञान की जरूरत है, उतनी ही अज्ञान की भी जरूरत है। अकेला ज्ञान और अकेला अज्ञान दोनों अंधेरे में ले जाते हैं। इसलिए कुछ चाहिए विद्या और कुछ चाहिए अविद्या। आत्मज्ञान, विद्या और अविद्या दोनों से परे है। उपनिषद् हमें इतनी गहराई में ले जाता है कि चित्त में कोई भी भ्रम नहीं रहने देता।

मिट्टी की मूर्तियां आदि बनाने की कला संबंधी एक पुस्तक में मूर्ति को अपूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति का स्पष्ट निषेध किया गया है। उक्त पुस्तक में लेखक ने अपने अनुभव देते हुए लिखा है कि— आरंभ में मिट्टी का चाहे जैसा आकार बनाएं पर अंत में अभीष्ट आकार प्राप्त हो जाए तो ठीक— इस भावना से कभी काम न करें बल्कि इस ढंग से निर्माण का काम करें कि आदि से लेकर अंत तक किसी भी समय कोई उसे देखे, तो वह समझ जाए कि क्या चल रहा है। ऐसा होने पर ही मूर्ति में कला का



संचार होता है। नहीं तो बहुत से कलाकार यह कहते पाए जाते हैं कि अभी क्या देख रहे हो, पूरा होगा तब देखना। शुरू में ऊटपटांग बनाते चलें और बाद में उसे सुधारने बैठें! इस तरह की धांधली से कला सध नहीं सकती। कला है आत्म का अमर अंश। इसलिए आत्मविकास के सूत्र पूर्ण से पूर्ण को लेकर ही कला का जन्म संभव है।

राष्ट्र निर्माण भी बहुत ही बड़ी कला है। पूर्ण में से पूर्ण का सूत्र पकड़ कर उसकी रचना की जाए, तभी वह सध सकेगा।

## मेंढा गांव की गल्ली सरकार

मिलिंद बोकील

**2011, 27** अप्रैल। गांव मेंढा, तहसील धानोरा, जिला गडचिरोली के बाहर का मैदान। समय दोपहर साढ़े बारह था। चिलचिलाती धूप। तपी हुई जमीन। ऊपर चमकता आसमान। मैदान में बड़ा-सा शामियाना खड़ा है। सभा चल रही है। मंच पर नेताओं और अफसरों का हुजूम। दिल्ली से केंद्रीय वनमंत्री आए हैं। उनके साथ योजना आयोग की सचिव भी। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री भी तीन काबीना मंत्रियों— वनमंत्री तथा आदिवासी विकास मंत्री— के साथ बिराजे हैं। तीन स्थानीय विधायक भी मौजूद हैं। जिला परिषद् के अध्यक्ष भी। वन तथा राजस्व विभाग के वरिष्ठ अफसरों की तो पूरी पलटन ही हाजिर है। उनके सामने जिला स्तर के अफसर बौने लग रहे हैं।

क्यों इकट्ठा हुए हैं ये सब? दिल्ली और मुंबई की सरकारें मेंढा-लेखा गांव में आई हैं, मेंढा की ग्रामसभा को उनके जंगल में पैदा होने वाले बांस की बिक्री का अधिकार सुपुर्द करने के लिए। दो साल पहले ही 2006 के वन अधिकार कानून ने मेंढा को उसके 1800 हेक्टेयर वन-जमीन पर स्वामित्व-अधिकार दिया था। महाराष्ट्र के राज्यपाल ने खुद आकर उस अधिकार का कागज गांव को सौंपा था।

लेकिन हाथ में आया था सिर्फ कागज। वास्तव में अधिकार मिला नहीं था। जंगल से कोई भी चीज बाहर लानी हो तो वन विभाग का अनुमति-पत्र जरूरी होता है और विभाग यह अनुमति-पत्र नहीं दे रहा था। वह हठ पकड़े था कि लोग बांस अपने उपयोग के लिए भले काटें, लेकिन बेच नहीं सकते। और तो और, उसने मेंढा से बांस खरीदने वालों पर मुकदमा दायर करने की

धमकी भी दी थी। दो साल से मेंढा के लोग इसके खिलाफ लड़ रहे थे।

आज उनकी लड़ाई सफल हुई है। केंद्रीय वनमंत्री खुद अनुमति-पत्र-पुस्तिका देने आए हैं। शामियाना लोगों से खचाखच भरा है। तीन-चार हजार लोग होंगे। करीब आधी संख्या में महिलाएं मौजूद हैं। तहसील के दूसरे आदिवासी गांवों के लोग भी आए हैं। खासकर वहां के पंचायत सदस्य और वन-अधिकार समितियों के सदस्य। सबके चेहरों पर इंतजार की बेसब्री पढ़ी जा सकती है। वातावरण में गड़बड़ी-हड़बड़ी नहीं, उत्साह है। शायद, जो सामने घटित हो रहा है, उस पर एकाएक विश्वास नहीं हो रहा है।

वन विभाग के प्रमुख अधिकारी सभा की भूमिका रखते हैं। बिलकुल उबाऊ शैली में। बताते हैं कि वन-अधिकार के इतने हजार दावे मंजूर हुए हैं। उनमें व्यक्तिगत दावों की संख्या ही अधिक है; सामूहिक दावों की संख्या नगण्य है। फिर शुरू होते हैं भाषण। बड़े अतिथियों के अलावा सिर्फ देवाजी तोफा बोलते हैं। देवाजी मेंढा गांव के हैं। शुरूआत गोंडी में करते हैं। लोगों को घोषणा देने के लिए कहते हैं: “दिल्ली-मुंबई में हमारी सरकार, हमारे गांव में हम ही सरकार।” फिर कहते हैं— “दिल्ली की सरकार आज गल्ली की सरकार से मिलने आई है। जैसी दिल्ली में एक सरकार है, वैसी गली में भी यानी गांव में भी एक सरकार है। दोनों को मिलकर काम करना चाहिए। फिर अपनी खास कीर्तनकार की शैली में कहते हैं— “बटन दबाकर शुरू होती है वह कार, और जिसे धक्का देकर सरकाना पड़ता है— वह सरकार!” लोग तालियां बजाते हैं। मंच पर आसीन मंत्री भी सिर हिलाते हैं। देवाजी कहते हैं, “मैं नेता नहीं हूं, न कोई संत या साधु-बाबा हूं। एक आम आदमी हूं। इस देश का आम आदमी ही इस देश का असली चालक है।” संविधान के आमुख का वे इस संदर्भ में उल्लेख करते हैं— हम भारत के लोग। जो इन लोगों की इच्छा के अनुसार चलता है, वही है असली लोकतंत्र, न कि वह जो सिर्फ प्रतिनिधि चलाते हैं।

फिर दूसरे वक्ता बोलते हैं। देवाजी का भाषण इतना प्रभावी रहा है कि अब तो सभी देवाजी के भाषण का संदर्भ देते चलते हैं। यहां विधायक आदिवासियों की कैफियत रखते हैं। वे सत्ता-पक्ष के ही हैं। कहते हैं कि जिले में 79 प्रतिशत जंगल हैं, जिसकी यहां के लोगों ने ही रक्षा की है,

लेकिन सरकार को इसकी कद्र नहीं है। मंत्रालय में बैठे अड़ंगेबाज लोगों के कारण विकास-कार्य ठीक से संपन्न नहीं होते। बाद में महाराष्ट्र के वनमंत्री बोलते हैं। तो वे भी विधायक तथा देवाजी की बातों से सहमति जताते हैं—कहते हैं, सरकार धक्का दिए बगैर नहीं चलती, यह हमारी भी दिक्कत है।

महाराष्ट्र के गृहमंत्री भाषण देते हैं। वे गडचिरोली जिले के पालक-मंत्री भी हैं। वे स्वीकार करते हैं कि “गडचिरोली जिला हर चीज में महाराष्ट्र में आखिर का है। जिले का प्रशासन-तंत्र अपर्याप्त है। 40 फीसदी स्थान यहां रिक्त पड़े हैं। माओवादी विकास कार्य होने नहीं देते। सबको मिलकर चुनौतियों का सामना करना चाहिए।” उनके भाषण में माओवादियों का दबाव महसूस होता है। वैसे तो यह दबाव कल से ही महसूस हो रहा था। मंत्रीगण सड़क के बदले हेलिकॉप्टर से उड़कर आए हैं। कार्यक्रम के लिए पुख्ता बंदोबस्त हैं कल से ही। गांव मानो सैनिक छावनी-सा बन गया है। राज्य की पुलिस तो है ही, केंद्रीय रिजर्व पुलिस भी है। साथ में कमांडोज और बख्तरबंद गाड़ियां भी। गांववालों को भी फोटो-पास लेना लाजिमी है। देवाजी को भी पास लेना पड़ा है। अपने ही गांव में अपनी पहचान दिलाना!

बाद में केंद्रीय वनमंत्री बोलते हैं— वे मराठी समझते हैं, इसलिए पहले हुए भाषण उनकी समझ में आए हैं। कहते हैं कि यह ऐतिहासिक दिन है। आज हम एक ऐतिहासिक कदम उठा रहे हैं। सन् 1927 का वन कानून ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासकों ने बनाया था। उसने लोगों के अधिकार छीने थे। सन् 2006 के कानून से हम उन्हें वे अधिकार फिर सौंप रहे हैं। वे जाहिर तौर पर स्वीकार करते हैं कि सिर्फ नौकरशाही के बूते पर वनों की रक्षा नहीं की जा सकती, यह साफ हो चुका है। लोगों को वन पर अधिकार सौंपना ही पड़ेगा, क्योंकि वे ही अपने जंगल की रक्षा तथा उसकी व्यवस्था अच्छे तरीके से कर सकते हैं। वे अपने विभाग के अफसरों को दो टूक बात कहते हैं कि पुराने पुलिसनुमा तरीके से अब काम नहीं चलेगा। लोगों के अधिकार उन्हें दें। उन अधिकारों के बीच न आएँ। अगर लोगों के साथ काम करेंगे तो ही जंगल बचेंगे।

फिर मुख्यमंत्री की बारी आती है। वे राज्य की राजनीति में अभी नए हैं, लेकिन केंद्र में वन अधिकार कानून बनाने में उनका सहभाग रहा है।

वे वनमंत्री मई-जून 2013, 25 के कथन की ताईद करते हैं। कहते हैं कि ऐतिहासिक कदम उठाया जा रहा है। वे जिले के लिए कई नई विकास योजना भी घोषित करते हैं। लोगों को अधिकार दिलाने की कटिबद्धता दोहराते हैं। और विकास-प्रकल्पों को चालना देने की बात करते हैं। स्वीकार करते हैं कि 2006 के वन अधिकार कानून का अमल आज इतने सालों बाद सही मायने में हो रहा है। सही है, आज तक तो सरकार सिर्फ कागज ही चलाती रही है। अधिकार लोगों को पहली बार ही मिल रहे हैं।

आखिर में अनुमति-पत्र-पुस्तिका प्रदान करने का कार्यक्रम होता है। मेंढा ग्रामसभा की ओर से देवाजी पुस्तिका लेते हैं। छायाचित्रकारों की भीड़ उमड़ती है। कैमरे दमकते हैं। लोग तालियां बजाते हैं। वैसे, यह दृश्य कोई नया नहीं लगता। किसी मंत्री के हाथों हो रहे पुरस्कार प्रदान कार्यक्रम जैसा ही दिखता है। लेकिन यह आम कार्यक्रम नहीं है। यह भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दिन है। ऐतिहासिक दिन! एक अपूर्व घटना! सरकार जो दे रही है, वह महज जंगल-उत्पाद की निकासी के अनुमति पत्रों का पुलिंदा नहीं है, वह जनता के अधिकारों की सनद है। वह मेंढा के गांववाले ले रहे हैं, लेकिन दरअसल उनके रूप में सारे देश की जनता अपने स्वाभाविक अधिकार सिद्ध कर रही है। जो यह समझ रहे हैं, वे इस घटना की ऐतिहासिकता महसूस कर रहे हैं। कल सब अखबारों में यह समाचार पहले पन्ने पर आने वाला है।

यह दिन यकायक नहीं आया है। इसके लिए बहुत लंबा संघर्ष करना पड़ा है। एक दो नहीं करीब 25 साल का संघर्ष! मूक-संघर्ष! अकेले लड़ी एक लड़ाई! सभा चल रही है। शामियाने के पर्दे फड़फड़ा रहे हैं। आंखों के सामने से सारे इतिहास का चलचित्र गुजरता जाता है।

कैसे शुरू हुआ यह सब?

1984 में चंद्रपुर-गडचिरोली में 'जंगल बचाव-मानव बचाव' आंदोलन शुरू हुआ। आंध्रप्रदेश में गोदावरी नदी पर इंचमपल्ली में तथा पास के बस्तर जिले में इंद्रावती नदी पर भोपालपट्टनम् में बांध बनाने की योजना थी। इस क्षेत्र में वैनगंगा और इंद्रावती ये मुख्य नदियां हैं; दोनों गोदावरी की उपनदियां। इंद्रावती महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ के बीच की सीमारेखा है, तो वैनगंगा चंद्रपुर

और गडचिरोली जिलों के बीच की सीमारेखा है। दोनों प्रकल्प महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ और आंध्रप्रदेश की सीमा पर थे; फिर भी गडचिरोली जिले का काफी जंगल और आदिवासी क्षेत्र डूबने वाला था। लाभ कुछ भी नहीं था। इस क्षेत्र के आदिवासी गांवों में इन योजनाओं के खिलाफ आंदोलन खड़ा होना स्वाभाविक था। इस आंदोलन को लालश्यामशहा महाराज का नेतृत्व मिला।

लालश्यामशहा महाराज एक अनोखे नेता थे। वे थे एक गोंड जमींदार। पुराने मध्यप्रान्त में गोंड समुदाय की 84 जमींदारियां थीं। ब्रिटिश राज में भू-राजस्व की वसूली कर उसे सरकार में जमा करना इन जमींदारों की जिम्मेवारी थी। लालश्यामशहा महाराज की जमींदारी थी राजनांदगांव जिले के पानाबारस गांव में। जमींदार होने के बावजूद उनका रहन-सहन और बर्ताव आम किसान-जैसा ही रहता था। वे समाजवादी विचार के थे। 1972 में चंद्रपुर लोकसभा क्षेत्र से अपक्ष, निर्दलीय सांसद के तौर पर वे निर्वाचित हुए। लेकिन 1971 में बांगला देश युद्ध के बाद शरणार्थियों को सरकार ने बस्तर में बसाया, इसका विरोध कर उन्होंने संसद से इस्तीफा दिया। इसके बाद उनका सारा जीवन जन-जागरण के लिए समर्पित रहा।

वे गांव-गांव घूमते। किसी के घर में नहीं, बल्कि पेड़ के नीचे ठहरते। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। आदिवासी-विकास के बारे में उनके अपने विचार थे। वे बी.ए. तक पढ़े थे। बांध-विरोधी आंदोलन व्यापक विकास का आंदोलन हो, यह उनका प्रयास रहा। इसीलिए आंदोलन को 'जंगल बचाव-मानव बचाव' नाम दिया गया। आंदोलन इतना जबर्दस्त था, लोगों का असंतोष इतना पैना था कि सरकार को ये बांध खारिज करने पड़े। ये दो तो खारिज हुए ही, साथ में कारवाफा और तुलतुली जैसे दो बड़े प्रस्तावित बांध भी खारिज करने पड़े। आंदोलन की असली सफलता थी, आदिवासियों में इस निमित्त से आई जागृति।

उन्हीं में से एक थे, चंद्रपुर के युवा कार्यकर्ता मोहन हिराबाई हिरालाल। वे जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में काम करने वाले विद्यार्थी तथा युवाओं के संगठन छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी में शामिल थे। संघर्ष वाहिनी का केंद्र उन्होंने चंद्रपुर में शुरू किया था। 1978 से चंद्रपुर में काम कर रही 'महाराष्ट्र जबरान जोत आंदोलन कृति समिति' में भी वे सक्रिय थे। 1979 से 1986

के बीच एक अनूठी प्रक्रिया उन्होंने उस क्षेत्र में चलाई थी, जिसका नाम था 'अपना रास्ता हम खुद ही खोजें।' इस प्रक्रिया का आरंभ होता था आदमी खोजने और उनसे संवाद करने से। उन्होंने अपने मित्रों के साथ 1984 में 'वृक्षमित्र' संस्था की स्थापना की थी। संस्था का उद्देश्य था, जंगल तथा मानव के बीच के संबंधों की खोज और उन संबंधों को मानव-विकास तथा पर्यावरण-संवर्धन के लिए पोषक बनाना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1987-88 में गडचिरोली जिले की धानोरा तहसील के 22 गांवों में 'वन तथा लोगों की उपजीविका' इस विषय का अध्ययन उन्होंने किया। इस अध्ययन के दौरान वे खोज रहे थे कि क्या सर्वसहमति से अपने निर्णय लेने वाला कोई गांव है? 'जंगल बचाव-मानव बचाव' आंदोलन के दौरान एक पदयात्रा में उनका देवाजी से परिचय हुआ था। देवाजी ने उन्हें बताया— 'हां, हमारा गांव ऐसा है; हम सर्वसहमति से निर्णय लेते हैं। उसका नाम था— मेंढा लेखा।

गडचिरोली से राजनांदगांव (छत्तीसगढ़) की तरफ जो रास्ता जाता है उस पर गडचिरोली से तीस किलोमीटर दूरी पर मेंढा गांव रास्ते से सटा हुआ ही है। आगे तीन किलोमीटर दूरी पर, इसी रास्ते पर तहसील का गांव धानोरा है। मेंढा के पड़ोस में लेखा गांव है। इस परिसर में मेंढा नाम के दो-चार गांव हैं; इसलिए इस मेंढा को लेखा-मेंढा, अर्थात् लेखा के पास का मेंढा कहा जाता है। लेखा बड़ा गांव है। उसमें आदिवासियों के अलावा दूसरे समुदाय के लोग भी हैं। ग्रामपंचायत लेखा के नाम से जानी जाती है। उसमें लेखा, मेंढा और कन्हारटोला, ये तीन गांव हैं। कन्हारटोला गोंड समुदाय का ही 25-30 घरों का छोटा गांव है।

मेंढा करीब सवा सौ-डेढ़ सौ सालों से आबाद होगा। वहां के लोग बताते हैं कि पूरब की ओर बस्तर तहसील का पुसागंडी उनका मूल गांव है। वहां से सात भाइयों का एक परिवार इस क्षेत्र में आया। सभी मेंढा में ही नहीं बसे, कुछ लोग इधर-उधर भी गए। मेंढा के पुलिस पटेल रहे बिरजू जोगी तोफा का परिवार सबसे पहले यहां बसा। बिरजू गांव के मुख्य पुजारी भी हैं। उम्र 70 से ज्यादा ही होगी। उनके दादा के दादा यहां पहले आए। फिर दूसरे लोग आए। ये सब लोग पहले पहाड़ों पर रहते थे, लेकिन जैसे बस्ती बढ़ी वैसे घुमंतू खेती से गुजर-बसर करना कठिन हुआ। इसलिए वे नीचे

मैदानी क्षेत्र में नदी-नालों के किनारे खेती करने आए। ये लोग माडिया गोंड कहलाते हैं— यानि पहाड़ पर रहने वाले गोंड। गोंडी भाषा में माड यानी पहाड़। देवाजी बताते हैं कि उनके पुरखे अबूझमाड में रहते थे, जो महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ की सीमा पर है। वहां से उठकर पश्चिम की ओर आए।

किसी गांव की बात निकलती है, तो पहला सवाल मन में यह आता है कि इस गांव के लोग कैसे जीते हैं? क्या हैं उनके जीवन-निर्वाह के साधन? खेती के साथ दूसरे कौन से धंधे वे करते हैं?

मेंढा गांव के लोग पहाड़ से नीचे आए खेती करने के लिए। लेकिन वहां खेती की जमीन ज्यादा नहीं है। फिर भी हर परिवार के पास जमीन है; कोई भूमिहीन नहीं है। खेती की मुख्य उपज है धान। मुख्यतः लुचाई किस्म बोई जाती है। लुचाई में भी कई किस्में हैं। उनमें लाल लुचाई और सफेद लुचाई (मजबी) मुख्य हैं। इनके सिवा भारी लुचाई, काकेरी, पिटे हिड्स्क, तोया, हलका सप्री, और पोहा बनाने के लिए उपयुक्त मानी जाने वाली भारी सप्री, ये किस्में भी बोई जाती हैं। इन दिनों ज्यादातर लोग 1010 या सोनम किस्में ही बो रहे हैं, क्योंकि वे उपज ज्यादा देती हैं। औसत उपज प्रति एकड़ तीन से चार क्विंटल रहती है। धान के अलावा तूर, मूंग, अरहर, खेसारी जैसी दालों का तथा अलसी जैसे तिलहन का उत्पादन भी लेते हैं। कुछ लोग सर्दी में चना भी उपजाते हैं। खेती की उपज मुख्यतः घर में खाने के लिए ही काम आती है।

धान की खेती बारिश पर निर्भर है। सिंचन सुविधा न होने से एक बार ही फसल ली जाती है। लेकिन मेंढा के गांव से सटकर बहने वाली कठाणी नदी के किनारे सब्जियां पैदा करते हैं। इसे 'मरियाण' कहते हैं। धान की खेती और मरियाण के साथ मजदूरी भी की जाती है और वनोपज भी जीविका के काम आती है। मेंढा गांव की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है, उसका 1800 हेक्टेयर का बड़ा जंगल, जिसे उन्होंने प्रयत्न से संभाला है। इतने बड़े जंगल में स्वाभाविक रूप से ढेर सारे किस्म के पेड़, लताएं और घास हैं। उनकी सूची की जाय तो काफी लंबी होगी। मेंढा गांव ने जैवविविधता कानून 2002 के तहत अपना 'जैवविविधता रजिस्टर' बनाया है, उसमें इन सब की नोद की गई है— बांस, सागौन, महुआ, तेंदू, आंवला, हरड़ा, बहेड़ा,



अर्जुन, ऐन, धावडा, खैर, चिरौंजी, सीवन, मोवई, चिलाटी... क्या-क्या गिनाएं?

स्वाभाविकतः जंगल उपजीविका का एक प्रमुख साधन बन गया है। दो तरह से— एक तो वनोपज मिलती है और दूसरी बात, जंगल में हुए कामों में मजदूरी मिलती है। वनोपज में मुख्य तो बांस ही है। उसके बाद नंबर आता है महुआ, तेंदू, चिरौंजी, गोंद, शहद, आंवला, हरड़ा, बहेड़ा, पापड़ी, करंज, मशरूम, इमली, लाख, बिबला आदि। महुआ, तेंदू, पाहूर, अंबाडी इनके फल, पत्ते, फूल—सभी का कुछ न कुछ उपयोग होता है। इनमें ज्यादातर वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य भी है। हर चीज की अलग-अलग बिक्री व्यवस्था खड़ी हो गई है। यह बात सिर्फ मेंढा में ही नहीं, राज्य के सभी जंगलों में पाई जाती है।

बांस की बात की जाए, तो लोग अपने निजी उपयोग के लिए बांस तोड़कर लाते आए हैं। लेकिन सरकार ने मेंढा के जंगल का बांस बल्लारपुर पेपर मिल को लंबी लीज पर दिया हुआ था। सरकार ने न केवल मेंढा के, बल्कि चंद्रपुर-गडचिरोली जिलों के जंगल का सारा बांस बल्लारपुर पेपर मिल को बेचा था। 1950 के दशक में चंद्रपुर में बल्लारपुर पेपर मिल बनी थी। यहां कारखाना बनाने का उद्देश्य एक ही था— बांस की भरपूर मात्रा में उपलब्धता। बांस ही मिल का मुख्य कच्चा माल था। सैंकड़ों एकड़ जंगल से बांस काटने की लंबी मुदत की लीज मिल को दी गई थी। जैसे-जैसे बांस कटने लायक हो जाता, मिल उसे कटवा लेती। सन् 1991 से 2001 के दरमियान मिल को बांस बेचा गया था 400 रुपए प्रति टन की दर से। एक टन में करीब 2400 मीटर बांस आता है। बांस की औसत लंबाई 7 मीटर मान लें, तो एक टन में करीब 350 बांस आते हैं। यानी एक बांस की कीमत हुई रुपए-सवा रुपए। और उस समय बाजार में बांस की कीमत थी दस से बारह रुपए। पेपर मिल को दो लाख टन बांस का आवंटन किया गया था।

नवंबर 1990 में मेंढा के लोगों के ध्यान में आया कि मिल के लोगों ने दूसरे किसी रास्ते से चुपचाप आकर उनके जंगल के बांस के पुंजों पर निशान किए हैं। यह कटाई की पूर्व तैयारी थी। इसे देखकर गांववाले सतर्क हुए। ग्रामसभा बुलाई गई और इस विषय पर चर्चा हुई। तय हुआ कि मिल को इस साल बांस काटने नहीं देना है। इस निर्णय के पीछे कई कारण

थे। एक तो ग्रामसभा का प्रस्ताव था कि अपने जंगल की रक्षा करनी है और अपने क्षेत्र में किसी को बिना अनुमति काम करने नहीं देना है। दूसरी बात यह थी कि गांव वालों को बांस की जरूरत होने के बावजूद सरकार उसे मिल को दे रही थी। तीसरी बात यह थी कि मिल अंधाधुंध तरीके से बांस काटती थी। छोटे और कोमल, अपक्व बांस भी काटती थी। कटाई के दौरान बांस के अंकुर भी नष्ट हो जाते। इस कारण जंगल में नए बांस पैदा होना ही कठिन हो जाता।

बांस का केवल किसान के ही नहीं, सभी लोगों के जीवन में काफी महत्व है। बांस से टोकरियां, अनाज रखने के लिए कोठार, सूप जैसी कई उपयोगी वस्तुएं तो बनती ही हैं; उसका उपयोग मकान आदि के निर्माण में, बाड़ बनाने में, मंडप बनाने में— हर कहीं होता है। इसीलिए तो उसे 'कल्पवृक्ष' कहते हैं। यह कोई महज आलंकारिक भाषा नहीं बल्कि वस्तुस्थिति का बखान है। और पेपर मिल उसकी सिर्फ लुगदी बनाती थी। इतना ही नहीं, इस कच्चे माल की आपूर्ति होती रहे, इसके लिए अच्छा बुरा जो करना पड़े, वह करने से हिचकती नहीं थी। यह सिर्फ चंद्रपुर-गडचिरोली की बात नहीं है। जहां कहीं भी पेपर मिल है, वहां यह होता आया है। पर्यावरण वैज्ञानिक माधव गाडगिल ने बताया है कि कर्नाटक की दांडेली पेपर मिल ने कारवार जिले का बांस 1958 से 1973 के दरमियान बेतहाशा कटाई कर खत्म कर दिया। वहां भी मिल के मजदूर बांस के तने के निचले हिस्से पर रहने वाला कंटीला आवरण जानबूझकर काट डालते थे, जिससे बांस के अंकुर सूख जाते और चंद सालों में बांस खत्म हो जाते। गांव वाले ऐसा नहीं करते थे, वे बांस के तने का ऊपरी हिस्सा ही काटते थे, जिससे बांस जिंदा रहता था।

यह सही है कि बांस से कागज बनता है और कागज हर एक की जरूरत है। (यह लेख भी कागज पर ही तो छपा है।) लेकिन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किफायत से और सही तरीके से, विवेक रखकर करना चाहिए। इसीलिए मेंढा का कहना था कि गांव वालों की जरूरतों की पूर्ति के बाद ही बांस मिल को दिया जाए; जहां तक हो सके, सूखे टुकड़े दिए जाएं, उनकी उचित कीमत मिले; और अंधाधुंध, अवैज्ञानिक कटाई से जंगलों का स्थाई नुकसान न किया जाए। क्या यह मांग वाजिब नहीं है? इतनी सीधी सादी बात के लिए लोगों को इतना झगड़ना क्यों चाहिए? लेकिन बात यह है कि

भले ही लोकतांत्रिक व्यवस्था हो, वह हित तो अमीर और प्रतिष्ठित लोगों का ही देखती है। मेंढा गांव का आग्रह इतना ही था कि लोगों के हित को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। यह सब हो रहा था, उसी समय मेंढा अपने सामाजिक राजनीतिक संगठन की— ‘हमारे गांव में हम ही सरकार’ की प्रक्रिया भी आगे बढ़ा रहा था। यह प्रक्रिया जैसा उसका नाम ही बताता है— एक राजनीतिक प्रक्रिया है। हम मेंढा गांव की कहानी समझना चाहते हैं, वह इस प्रक्रिया के कारण। जलग्रहण क्षेत्र-विकास या जंगल-रक्षा के काम महाराष्ट्र में कम नहीं हुए हैं। ग्रामसफाई या ‘तंटामुक्ति’ (झगड़ों से मुक्ति) अभियानों में शामिल होकर ‘आदर्श’ कहलाए गए गांव भी कई हैं। मेंढा की विशेषता है, वहां की राजनीतिक प्रक्रिया। दूसरे शब्दों में कहना हो, तो उसने एक अलग तरह की राजनीति चलाई। इसलिए, गांव के विकास की बात करते समय भी यह राजनीतिक सूत्र हमें कभी नजरअंदाज नहीं करना चाहिए।

किसी व्यवस्था को जब हम ‘सरकार’ कहते हैं तब उसका स्वरूप कैसा रहता है? ‘सरकार’ व्यवस्था में मुख्यतः तीन प्रक्रियाएं होती हैं। पहली, निर्णय-प्रक्रिया। सरकार निर्णय लेती है। यह उसका प्रमुख काम है। हम केंद्र या राज्य सरकार को देखते हैं, तब पाते हैं कि वह हर चीज के बारे में हरदम निर्णय लेती रहती है। दूसरे शब्दों में सरकार को परिभाषित ही यूँ किया जा सकता है कि ‘जो निर्णय लेती है वही सरकार’। दूसरी बात है, नियम और कानूनों की रचना। लोकतंत्र में लोगों द्वारा निर्वाचित विधान-मंडल कानून बनाते हैं। कानून का अर्थ ही है, शासन। तीसरी बात है, निर्णयों को अमल में लाने वाली रचना, जिसे हम नौकरशाही कहते हैं। सरकार में विभिन्न विभाग होते हैं, जिनके मार्फत नीतियां और कार्यक्रम अमल में लाए जाते हैं।

मेंढा गांव जब कहता है कि ‘हमारे गांव में हम ही सरकार’ तब इस संदर्भ में उसका क्या अर्थ होता है? ऊपर कही गई तीन प्रक्रियाएं वहां किस तरह चलती हैं? पहली बात है, निर्णय-प्रक्रिया। आज की लोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्था बहुमत के आधार पर निर्णय लेती है। निर्णय कहीं भी, किसी भी स्तर पर लेना हो, वह बहुमत के आधार पर ही लिया जाए, यह तय है। चुनाव में जीतता कौन है? जिसे सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं। विधानमंडलों में प्रस्ताव कब पारित होता है? जब उसके समर्थन में ज्यादा हाथ उठते हैं। छोटे गुटों में भी— फिर वह कोई कार्यालय हो या हाउसिंग सोसायटी, या

फिर दूसरा कोई समूह—निर्णय बहुमत के आधार पर ही लिया जाता है। इस तत्व से अब हम अभ्यस्त हो चुके हैं। सरकारी और गैरसरकारी, सभी स्तरों पर यही सिद्धांत अमल में लाया जाता है।

लेकिन मेंढा में सरकार चलती है सर्वसहमति के सिद्धांत के आधार पर। यह बात मेंढा में आई कैसे? यह बात वहां परंपरा से थी, हालांकि निर्णयों में स्त्रियों की भागीदारी नहीं होती थी। मोहन और देवाजी ने जब गांव का संगठन नए सिरे से शुरू किया, तब स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित की गई, और निर्णय-प्रक्रिया सही अर्थ में सर्वसहमति की प्रक्रिया बन गई। सर्वसहमति की यह आधुनिक कल्पना विनोबा की 'सर्वायतन' संकल्पना से उपजी है।

राजनीतिक विचारों की छानबीन करते समय विनोबा कहते हैं कि सत्ता तीन प्रकार की हो सकती है। पहला प्रकार है एकायतन, जिसमें सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है— जैसे राजाओं के जमाने में होता था। दूसरा प्रकार है, अनेकायतन— जिसमें अनेक लोग मिलकर सत्ता चलाते हैं। तीसरा प्रकार है सर्वायतन, जिसमें सब लोग मिलकर सत्ता चलाते हैं। क्या आज हमारा लोकतंत्र सर्वायतन कहने योग्य है? विनोबा कहते हैं, ऐसा दावा जरूर किया जाता है, लेकिन वह सही नहीं है। कारण निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं। सर्वायतन, यानी सबकी सत्ता, आज कहीं भी अस्तित्व में नहीं है; वह निर्माण करनी होगी। अगर यह करना हो तो राष्ट्र में व्यापक बंधुभाव होना चाहिए, सबके समान विकास की दृष्टि होनी चाहिए, और शासन तथा प्रशासन कम-से-कम होना चाहिए। सबका परस्पर सहयोग होना चाहिए; और वह भी पूरे दिल से, स्वाभाविक और ज्ञानपूर्वक। यहां 'ज्ञानपूर्वक' शब्द का महत्व है, क्योंकि इस राज्य व्यवस्था के लिए ज्ञान का सतत और मुक्त संचार एक जरूरी शर्त है। बिना पूरा सोचे, मजबूरी से या किसी के कहने से लोग एकत्र होते हों, तो उसमें सार नहीं। पूरी समझ के साथ, पूरे दिल से और अहिंसा के आधार पर सहयोग होना चाहिए। विनोबा अपनी अनोखी शैली में कहते हैं, 'गांव का हर किसान अपने में बादशाह होना चाहिए।' इस एक वाक्य में उनके पूरे विचार का सार आ जाता है।

सर्वोदय का यह विचार मेंढा में दाखिल होने से, गांव की एकमत से निर्णय लेने की जो आदिवासी परंपरा थी, उसको एक आधुनिक राजनीतिक विचार की मजबूत बुनियाद मिली। 'हमारे गांव में हम ही सरकार' कहना

ठीक है, लेकिन वह सरकार किन सिद्धांतों के आधार पर चले, यह अहम मुद्दा है। बहुमत के आधार पर सरकार को संगठित किया जा सकता है; आज ग्रामपंचायत और ग्रामसभा में यही हो रहा है। मेंढा गांव की विशेषता यह है कि उसने सरकार-निर्माण की प्रक्रिया की बुनियाद ही बदल डाली। दूसरे शब्दों में, सत्ता का अधिष्ठान ही बदल डाला। राजनीतिक विचार में यह काफी आगे जाने वाला कदम है।

मेंढा गांव सिर्फ 'हमारे गांव में हम ही सरकार' यह घोषणा करके या कुछ नियम बनाकर ही रुक नहीं गया है। अपना कारोबार चलाने के लिए उसने विभिन्न रचनाओं का निर्माण भी किया है। लेकिन उसमें से कोई भी रचना नौकरशाही जैसी नहीं है। किसी भी समिति का खुद का कार्यालय नहीं है। मेंढा में जब संयुक्त वन-प्रबंध कार्यक्रम चला, तब उसके तहत एक समाज-मंदिर का निर्माण हुआ। बाद में डॉ. गंगाधर मदीवार ट्रस्ट की मदद से ग्रामसभा ने तीन कमरे बनाए। यह समाज-मंदिर और कमरे विभिन्न कार्यक्रमों के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। ग्रामसभा के कागज उन्हीं में रखी अलमारियों में रखे गए हैं। फिर भी इन समितियों के कार्यालय उन कमरों में हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन समितियों का इस अर्थ में औपचारिक स्वरूप नहीं है। समितियां यानी लोग ही हैं। लोगों की विभिन्न रचनाएं विभिन्न जिम्मेदारियां निभाती हैं।

'हमारे गांव में हम ही सरकार' इस घोषणा से जो प्रक्रियाएं निकलीं, उनमें से एक के कारण हाल ही में गांव को 2006 के वन-अधिकार कानून द्वारा गांव के जंगल पर अधिकार मिल गया। संसद द्वारा सन् 2006 में 'अनुसूचित जमातों और अन्य परंपरागत वन-निवासी कानून' (वन-अधिकारों को मान्यता) बनना एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस कानून के पीछे यह भूमिका थी कि आदिवासियों पर वन-जमीन के संदर्भ में ऐतिहासिक अन्याय हुआ है, और वह दूर करने के लिए यह कानून बनाया जा रहा है। जैसा हमने पहले देखा, ब्रिटिश राज में जंगल सरकारी नियंत्रण में ले लिए गए और उससे वनों में परंपरा से रहते आए लोग बेदखल हुए। आजादी मिलने के बाद भी यह परिस्थिति नहीं बदली। जंगलों का उपयोग करने वाले या उनमें खेती करने वाले लोगों का अतिक्रमण माना गया। जिस जमीन पर वे पीढ़ियों से काश्त करते आए थे, उस जमीन पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त

करने के लिए आदिवासी लड़ते आए। विस्थापन के खिलाफ लड़ते आए। वन क्षेत्र में इस कारण से हमेशा तीव्र असंतोष बना रहा। उसे दूर करने के लिए वन-अधिकार कानून 2006 बनाया गया।

इस कानून का मुख्य प्रावधान यह है कि जो आदिवासी या वन-निवासी 13 दिसंबर 2005 के पहले खेती करते आए हैं, वे अपना दावा गांव की वन-अधिकार समिति की सिफारिश के साथ, उपविभागीय स्तर पर बनी सरकारी समिति को पेश करें। इसके लिए अलबत्ता वन-अधिकार समिति गांव-स्तर पर पहले गठित करनी होगी। उपविभागीय समिति उस दावे की जांच करेगी और उसके बाद दावा जिला समिति को भेजेगी, जो अंतिम निर्णय लेगी। दावा मंजूर होने पर, दावा करने वाले को जिलाधिकारी से स्वामित्व का प्रमाणपत्र मिलेगा। यह बेशक व्यक्तिगत स्वामित्व होगा। लेकिन कानून में सामूहिक स्वामित्व का दावा करने का भी प्रावधान है। सामूहिक उपयोग की जमीन पर सामूहिक स्वामित्व इससे प्राप्त किया जा सकता है।

मेंढा में जंगल-जमीन पर खेती करने वाले कुछ किसान थे, लेकिन उन्हें स्वामित्व-अधिकार नहीं था। तय हुआ कि उनके दावे दाखिल किए जाएं। देशभर में इसी प्रकार के दावे दाखिल हो रहे थे। लेकिन मेंढा के लोगों के ध्यान में आया कि निस्तार अधिकार का जंगल सामूहिक है, तो उस पर सामूहिक स्वामित्व का दावा पेश करना होगा। और, जैसी उनकी रीति रही है, उन्होंने कानून का बारीकी से अध्ययन करना शुरू किया। सबसे पहले ग्रामसभा में कानून पढ़ा गया। इस काम में मोहन के अलावा सुबोध कुलकर्णी नाम के कार्यकर्ता की मदद मिली। सुबोध इंजिनियर हैं और उनकी पत्नी किरण कुलकर्णी महाराष्ट्र की प्रशासनिक सेवा में अधिकारी हैं। जब उनका उपजिलाधिकारी के रूप में गडचिरोली में तबादला हुआ, तब सुबोध उनके साथ गडचिरोली रहने आए। और एक सहयोगी मित्र के नाते उन्होंने खुद को मेंढा गांव से जोड़ लिया।

सरकार ने यह कदम वन-निवासियों पर हुए अन्याय को दूर करने के लिए उठाया था। इसलिए इस कानून की जानकारी लोगों तक पहुंचाने के लिए वह खुद प्रयास कर रही थी। आकाशवाणी, दूरदर्शन और अखबारों के माध्यम से यह प्रयास हो रहा था। साथ ही गांव-गांव में बस अड्डा या दूसरे महत्व के स्थानों पर इशतेहार लगाए जा रहे थे। यह कानून भारत सरकार

के आदिवासी विकास विभाग द्वारा किया गया था, इसलिए उसके अमल के सूत्र राज्य स्तर के आदिवासी विकास विभाग के हाथ में थे। पुणे का आदिवासी शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान इस प्रचार-प्रसार का संयोजन कर रहा था। वह इस संदर्भ में कार्यशालाएं आयोजित कर रहा था। इन कार्यशालाओं में मोहन, देवाजी, सुबोध शरीक हुए। कानून क्या है, यह उन्होंने अच्छी तरह से जान लिया। यह कानून संसद ने 18 दिसंबर 2006 को बनाया था, और उसे राष्ट्रपति की मंजूरी 29 दिसंबर 2006 को मिली थी। लेकिन उसके तहत नियम 1 जनवरी 2008 को बने। इस दरमियान कानून के बारे में प्रचार-प्रसार को अवसर मिला।

मेंढा के लोगों ने कार्यकर्ता-मित्रों के ज्ञान का अच्छा लाभ उठाया। उन्होंने कानून को गहराई से समझ लिया। कानून का लाभ उठाने के लिए कौन से कदम उठाने होंगे, इस पर विचार किया। मेंढा में सब लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते, इसलिए उन्होंने कानून 'सुना'। जो बात समझ में नहीं आई, उस पर उन्होंने प्रश्न पूछे और कार्यकर्ताओं से शंकाओं का समाधान कर लिया। सरकारी कागज का डर उनके मन से पहले ही निकल गया था। कागज पर क्या लिखा है यह जान लिया, तो फिर कागज का डर चला जाता है— फिर कोई अनपढ़ ही क्यों न हो।

मेंढा के ध्यान में यह बात पक्की आ चुकी कि जिस निस्तार-वन को वे सालों से संभालते आए थे, उसके व्यवस्थापन का अधिकार प्राप्त करने का यह सुअवसर है। अध्ययन से वे जान गए थे कि स्वामित्व से व्यवस्थापन का अधिकार ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह कानून जंगल पर स्वामित्व नहीं देता, सिर्फ गौण वनोपज पर स्वामित्व देता है। वन-व्यवस्थापन के अधिकार का दावा अलग से करना पड़ता है। सिर्फ स्वामित्व अधिकार किस काम का? जैसे तो भारत के सभी प्राकृतिक संसाधनों पर भारत की जनता का स्वामित्व है ही। लेकिन क्या उनके व्यवस्थापन का अधिकार है? स्वामित्व जनता का और व्यवस्थापन कर रहे हैं वन विभाग या खानगी कंपनियां। इससे जनता सक्षम नहीं होती। इस तरह व्यवस्थापन का अधिकार अनौपचारिक स्वामित्व से ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह कानून इसी दृष्टि से बनाया गया है। मेंढा के अध्ययन में आया कि निस्तार अधिकार के बावजूद जंगल के व्यवस्थापन

का अधिकार उनके हाथ में नहीं था। इसीलिए सरकारी वन विभाग और दूसरों के साथ भी झगड़े होते रहते थे। अगर अधिकार निःसंदिग्ध रूप में प्राप्त होता है, तो जंगल की रक्षा तथा देखभाल बिना दिक्कत के की जा सकेगी। इतना ही नहीं, जंगल-आधारित आजीविका प्राप्त करने की दृष्टि से भी इसकी मदद होगी। इसलिए व्यक्तिगत दावे तो अवश्य पेश किए जाएं, लेकिन सामूहिक दावा भी अवश्य पेश किया जाए।

यह निर्णय हुआ और कानून के अनुसार कदम उठाना तय हुआ। मेंढा के साथ मारदा गांव में भी— जहां नितिन और मंदा काम कर रहे थे— सामूहिक दावा करने का निर्णय लिया।

मेंढा और मारदा, इन दोनों गांवों के दावे सही थे और वह कानून की कसौटियों पर खरे उतरते थे। इसलिए जिला समिति ने ये दावे मंजूर किए। 15 अगस्त 2009 को जिलाधिकारी और पालक मंत्री ने पत्रपरिषद लेकर इसका ऐलान किया। मेंढा का 1809 हेक्टेयर जंगल पर तथा मारदा का करीब 900 हेक्टेयर जंगल पर अधिकार मान्य हुआ। 28 अगस्त 2009 को अधिकार पत्र पर मुहर लगी। महाराष्ट्र के राज्यपाल ने 15 दिसंबर 2009 में गडचिरोली में आकर अधिकार पत्र लोगों को सौंपा।

यह एक ऐतिहासिक घटना थी। पूरे देश में पहली बार सामूहिक दावे गडचिरोली जिले में मंजूर हुए थे। सामूहिक अधिकार पाने वाला मेंढा पहला गांव था और मारदा दूसरा। इस विशेष कार्य के लिए बाद में जिलाधिकारी को राष्ट्रपति के हाथों राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। जिस अधिकार के लिए मेंढा तीस सालों से संघर्ष कर रहा था, उस पर भारतीय संविधान ने मुहर लगाई। लोगों का जंगल पर अधिकार साबित हुआ। आदिवासियों पर हुए ऐतिहासिक अन्याय का एक हद तक परिमार्जन हुआ।

इस घटना में मेंढा गांव एकदम प्रकाश में आया। मेंढा के सामूहिक वन-अधिकार को मान्यता तो मिली, लेकिन सवाल खड़ा हुआ कि अब आगे क्या किया जाए। किस तरह वह अमल में आए? इस संबंध में सरकारी स्तर पर कोई स्पष्टता नहीं थी। वन विभाग तो पहले से ही लोगों को जंगल पर अधिकार देने के लिए राजी नहीं था। वन-अधिकार कानून जब पारित हुआ, तब वन अधिकारियों ने उसके खिलाफ प्रत्यक्ष और



अप्रत्यक्ष रूप से प्रचार किया था। वन्यजीव-रक्षा के लिए काम करने वाली संस्थाओं को साथ लेकर उन्होंने कुप्रचार शुरू किया कि जंगल अगर लोगों को सौंपे गए तो वे उन्हें काटकर खत्म कर देंगे। बाघ जैसे वन्य पशु तो क्या, पेड़ भी नहीं टिकेंगे। जंगल वन विभाग के अधिकार में रहें तो ही सुरक्षित रह सकेंगे।

अब मेंढा की लड़ाई का दूसरा चरण शुरू हुआ। बांस और दूसरी गौण वनोपज पर मिला स्वामित्व-अधिकार सिर्फ कागज पर ही था; उसे अमली जामा पहनाना बाकी था। मुख्य सवाल था बांस का। मेंढा के जंगल में बांस पककर तैयार हुआ था। उसे बेचने का और बिक्री से होने वाली आय प्राप्त करने का अधिकार अब मेंढा की ग्रामसभा को था। लेकिन वन विभाग इसके आड़े आ रहा था। अब उसने एक नया ही मुद्दा उपस्थिति किया। वह कहने लगा कि वन-अधिकार कानून से लोगों को जो अधिकार मिला है वह गौण वनोपज पर ही है। इमारती लकड़ी पर नहीं है; और भारतीय वन अधिनियम 1927 के अनुसार बांस इमारती लकड़ी का प्रकार है, घास का नहीं। वन विभाग ने पूरे देश में इस भूमिका को लेकर प्रचार अभियान चलाया। दिल्ली और दूसरे बड़े शहरों में सभा सेमीनार आयोजित किए। टी.वी. और अखबारों के जरिए भी प्रचार चलाया। वन्यजीव-रक्षा के लिए काम करने वाली संस्थाएं तथा कार्यकर्ता इसमें शामिल हुए। अपने समर्थन में उन्होंने कुछ जीव-वैज्ञानिकों की राय भी जुटा दी।

बांस को लकड़ी कहें या घास, यह कोई मुद्दा नहीं था। वन अधिकार कानून के प्रकरण एक में दी हुई परिभाषा में धारा-2 झ में साफ कहा था कि 'गौण वनोपज यानी, बांस, शहद, मोम, लाख, तेंदू, कंदमूल, औषधी वनस्पति आदि सब वनोपज, जो इमारती लकड़ी नहीं है। यानी बांस का समावेश गौण वनोपज में किया गया था। कानून में इतनी स्पष्टता होने के बावजूद वन विभाग अड़ंगे लगा रहा था, गैरजरूरी विवाद पैदा कर रहा था। बांस वन विभाग की आमदनी का मुख्य जरिया है और वन विभाग को डर था कि कहीं यह जरिया खत्म न हो जाए।

वन विभाग ने अड़ंगा लगाया, वह प्रत्यक्ष बिक्री के लिए नहीं। बांस को दूसरी जगह ले जाने के लिए अनुमति पत्र की जरूरत होती है—

जिसे अंग्रेजी में ट्रांजिट पास (टी.पी.) कहते हैं। वन विभाग ने यह टी.पी. देने से मना किया। इसका मतलब था, कोई व्यापारी या कारीगर मेंढा गांव से बांस खरीदने पर भी उसे गांव से बाहर नहीं ले जा सकता। एक तरह से यह बिक्री पर पाबंदी ही तो थी। 26 जनवरी 2011 को धानोरा के नंदकिशोर चंदेल ने 25 रुपए प्रति नग के हिसाब से 25 बांस खरीदे। धानोरा के ही व्यापारी ललित बरछा ने 2000 बांस की मांग की। ग्रामसभा ने इसे मंजूर किया और दोनों को पत्र द्वारा सूचित किया। उन्होंने यह पत्र धानोरा की रेंजर कचहरी में पेश किए और टी.पी. की मांग की। लेकिन रेंजर ने टी.पी. देने से इनकार किया और कहा कि बांस की बिक्री गैरकानूनी है और उसके खिलाफ कार्रवाई की जाएगी।

मेंढा ने अब यह सवाल राष्ट्रीय स्तर पर उठाना तय किया। दिल्ली के सेंटर फॉर सायन्स एंड एनवायरनमेंट ने इसके लिए मदद की। संस्था की संचालिका सुनीता नारायण ने मेंढा से एक बांस खरीदा और सीधे केंद्रीय वनमंत्री जयराम रमेश से मिलकर टी.पी. की मांग की। कहा कि कानून से आपने गांव को अधिकार दिया है, तो फिर टी.पी. भी देना ही पड़ेगा। अगर स्थानीय वन-अधिकारी न दे रहे हों, तो आप दीजिए!

मेंढा यह बात केवल दिल्ली तक नहीं ले गया। उसने अपने क्षेत्र के विधायक से भी संपर्क किया और कहा कि विधायक तथा हमारे प्रतिनिधि होने के नाते आप यह बात उठाएं। यह कानून तो आपके ही दल ने पारित किया है। स्थानीय विधायक डॉ. नामदेव उसेंडी फिर मेंढा में आए। उनकी उपस्थिति में 15 फरवरी 2011 को ग्रामसभा की बैठक हुई। उसके पहले दिन गांव के सब लोग एक-एक बांस तोड़कर लाए थे। विधायक आदिवासी ही थे, और मेंढा की समस्या जानते थे। उन्होंने कहा, मैं खुद एक बांस खरीदता हूं और टी. पी. मांगता हूं। उन्होंने नकद रकम देकर बांस खरीदा। इसकी बाकायदा रसीद भी उन्हें दी गयी। फिर उन्होंने बांस लेकर जाने की अनुमति वन-अधिकारियों से मांगी। वन-अधिकारियों ने न केवल इससे इनकार किया, बल्कि बिना-अनुमति बांस खरीदने के लिए उन पर केस दायर करने की धमकी दी! वन-विभाग कितना निर्मम हुआ था, दुश्मनी पर उतर आया था, इसका यह उदाहरण था। सत्ता पक्ष के विधायक के खिलाफ ऐसी

भूमिका लेने में भी उसे हिचकिचाहट नहीं थी!

अब अखबारों में यह बात चर्चा का विषय हो गई थी। न केवल स्थानीय अखबार बल्कि राष्ट्रीय अखबारों ने भी इस अजीब भूमिका के लिए सरकार को आड़े हाथों लेना शुरू किया था। आखिर दिल्ली में इस संदर्भ में किए गए प्रयासों का परिणाम हुआ। केंद्रीय वनमंत्री ने अप्रैल 2011 में सब राज्यों को पत्र लिखकर आदेश दिया कि स्थानीय लोगों को गौण वनोपज का— जिसमें बांस भी शामिल है— स्वामित्व दिया जाए। लेकिन वन विभाग ने इस आदेश को भी कचरे की टोकरी में डाल दिया। वनमंत्री ने फिर खुद मेंढा में आना तय किया।

वनमंत्री का यह इरादा जानकर वन विभाग सकते में आ गया। जब विभाग का मंत्री आदेश दे रहा हो, तब तो वह बात करनी ही पड़ेगी। केंद्रीय वनमंत्री ने 27 अप्रैल 2011 का दिन मुकर्रर किया, मेंढा में आकर ग्रामसभा को टी.पी. की पुस्तिका देने के लिए। उन्होंने महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री को भी साथ लाने का सोचा। फिर जिले के वन अधिकारियों ने मेंढा के लोगों से और कार्यकर्ताओं से संपर्क किया, और शानदार समारोह करने की तैयारी की! अखबारों में बड़े-बड़े इश्तेहार दिए गए। सबको बुलाया गया। और फिर वह समारोह हुआ, जिसका जिक्र आरंभ में किया गया है।

फिर मेंढा ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। चूंकि मेंढा के बांस की गुणवत्ता अच्छी थी, व्यापारी उसे खरीदने के लिए उत्सुक थे ही। लेकिन बांस की कटाई तथा बिक्री की व्यवस्था निर्माण करना जरूरी था। मेंढा ग्रामसभा ने इस हेतु 'सामूहिक वन-व्यवस्थापन कार्यकारी समिति' गठित की। उसमें आठ पुरुष और तीन महिलाओं को लिया गया। अध्यक्ष पद पर युवा नरेश कुमोटी को नामजद किया गया। नरेश गांव के युवक मंडल, अर्थात् गोदूल समिति के प्रमुख थे। चरणदास नामक छात्र को सचिव बनाया गया। देवाजी समिति में नहीं थे। दुक्कू तोफा और रघु करंगामी, इन दो बुजुर्गों को छोड़कर बाकी सब सदस्य युवा थे। धानोरा की स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में समिति का अलग खाता खोला गया, क्योंकि अब बड़ी रकमों का लेन-देन जो होने वाला था।

मेंढावासियों ने टी.पी. का मुद्दा केवल सांकेतिक रूप से नहीं उठाया था। जंगल में करीब अस्सी हजार से एक लाख बांस कटने के लिए तैयार थे।

उन्हें तोड़ना और बेचना जरूरी था। समिति ने इसके लिए कदम उठाए। मध्यप्रदेश के हरदा के व्यापारी श्री वीरेंद्र कुमार आनंद ये बांस खरीदने के इच्छुक थे। मई 2001 में बांस-कटाई करना तय हुआ। बांस की कीमत प्रति नग 23 रुपए निर्धारित की गई। गांव वालों को बांस काटने की मजदूरी प्रति नग 8 रुपए और ढुलाई 1 रुपए देना तय हुआ। इसके अनुसार मई-जून में बांस काटा गया। टी.पी. पुस्तिका अब ग्रामसभा के पास ही थी, सो कोई दिक्कत नहीं थी। टी.पी. पुस्तिका लेते समय ग्रामसभा वन विभाग को उसका शुल्क अदा कर चुकी थी। कुल 89,882 बांस काटे गए और 112 परिवारों के 167 लोगों ने यह काम किया। मजदूरों में बहुसंख्य मेंढा के थे, लेकिन पड़ोस के लेखा और तुकूम गांवों के भी कुछ लोग थे। मेंढा को बांस बेचने से 21,50,000 की आमदनी हुई। लोगों को मजदूरी 8,08,938 रुपए मिली। गांव के नियम के अनुसार इसका 10 प्रतिशत हिस्सा गांव फंड में जमा किया गया और प्रत्यक्ष मजदूरी 726,627 रुपए दी गई। हर मजदूर को करीब आठ दिन के काम से 4350 रुपए मजदूरी मिली। गांव फंड में 80,893 रुपए जमा हुए। सरकार को मूल्याधारित कर, यानी वैट, बाकायदा अदा किया गया। ठेकेदार को जो पैसे दिए गए वे कर यानी टी. डी.एस. काटकर दिए गए। इसके लिए मेंढा ग्रामसभा ने आयकर विभाग में पंजीकरण करवाकर 'पेन' और 'टेन' क्रमांक प्राप्त किए हैं। बिक्रीकर विभाग से 'वैट' क्रमांक भी लिया गया है। कानूनी जरूरतों की पूर्ति एक छोटे-से गांव ने आसानी से की।

यह सब पढ़कर कोई सोचेगा कि मेंढा एक आदर्श गांव है, और महाराष्ट्र के दूसरे आदर्श गांव जिस तरह पर्यटन केंद्र बने हैं, उस तरह मेंढा भी बना होगा। लेकिन कोई इस दृष्टि से वहां गया तो उसके पल्ले निराशा ही आएगी। मेंढा महाराष्ट्र के दूसरे किसी गांव जैसा एक सामान्य गांव है। वहां का दैनंदिन जीवन वैसा ही है, जैसा आम तौर पर गांवों में होता है। सुबह होते ही मुर्गे बांग देते हैं, पक्षी चहचहाते हैं, जानवरों को खुला छोड़ा जाता है, कुंओं पर पानी भरने के लिए लोग उमड़ते हैं। सब लोग अपने-अपने कामों में व्यस्त हो जाते हैं। सुबह दस-ग्यारह बजे आपको गांव में कोई नहीं मिलेगा। वैसे भी यह गांव शांत, सुस्त लगता है। शाम को कुछ चहल-पहल

रहती है, लेकिन दूसरे गांवों में जैसे चबूतरे, मंदिर दीखते हैं, और वहां लोग मिलते हैं, वैसे मेंढा में नहीं है। मेंढा के पास लोगों को दिखाने के लिए कुछ नहीं है। गांव में किसी स्वयंसेवी संस्था की इमारत, प्रशिक्षण केंद्र या परिसर नहीं है। मेंढा में जो कुछ हुआ है, वह वहां के लोगों ने अपना जीवन आसान करने के लिए किया है। नारेबाजी के लिए नहीं।

सन् 1979 में संघर्ष वाहिनी के माध्यम से समाज के व्यापक कामों में उतरे श्री मिलिंद बोक्लि मराठी के एक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। उनके उपन्यास 'शाला' पर बनी एक फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला है।

मराठी से हिन्दी अनुवाद श्री पराग चोलकर ने किया है। वे भूदान आंदोलन के इतिहासकार हैं और मराठी तथा हिन्दी में साधिकार लिखते हैं।